

कैसे होगा शिक्षा की समस्या का समाधान?

केंद्र सरकार ने प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा का अधिकार इस देश के नौनिहालों और किशोरों को दिया है। सवाल है, पहले यह अधिकार क्यों नहीं दिया था? सवाल यह भी है कि क्या केंद्र सरकार द्वारा इस अधिकार के न दिये जाने से करोड़ों-करोड़ों की संख्या में बच्चे पढ़ाई नहीं कर रहे थे? कर रहे थे। जो धनाढ्य वर्ग के हैं, वे पांच-सितारा, सात-सितारा महंगे अंतरराष्ट्रीय स्कूलों में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे और कर रहे हैं। कुछ मध्यम स्तरीय प्राइवेट स्कूलों में तो कुछ निम्न स्तरीय प्राइवेट स्कूलों में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, भले ही उसकी गुणवत्ता जो भी हो। ऐसे स्कूलों में कतिपय स्कूलों को केंद्र के शिक्षा बोर्ड सीबीएसई (सेंट्रल बोर्ड ऑफ सेकेंडरी एजुकेशन) ने मान्यता दे रखी है तो बहुतेरे स्कूलों को राज्य सरकारों ने मान्यता दी है। वैसे बगैर मान्यता प्राप्त भी कुछ स्कूल चलते हैं, इसमें दो राय नहीं हैं। साथ ही केंद्र के विद्यालय प्रत्येक जिले में चलते हैं जो सरकारी अधिकारियों व केंद्र सरकार के कर्मियों के लिए हैं, पर वहां पढ़ाई की व्यवस्था तथाकथित इंटरनेशनल स्कूलों को भी मात देने वाली है।

शिक्षा और स्वास्थ्य की सुविधा दो ऐसी चीजें हैं जिन्हें पाने की उम्मीद 'कल्याणकारी' लोकतांत्रिक सरकारों से की जाती है। पर तथाकथित लोकतांत्रिक सरकारें शिक्षा की सुविधा किस हद तक दे रही हैं, इसका पता इसी बात से चल जाता है कि आजादी मिलने के छः दशक बीत जाने के बाद शिक्षा के अधिकार की बात की जा रही है। लानत है इस 'कल्याणकारी' सरकार पर।

हमारे देश में लगभग 70 फीसदी बच्चे स्कूल का मुंह नहीं देख पाते। इसकी वजह यह है कि वे पहले अपना पेट भरने की चिंता करें कि शिक्षा प्राप्त करने की। शिक्षा को अधिकार बना देने की घोषणाओं से कुछ भी होने वाला नहीं जब तक भूख की

समस्या पर काबू नहीं पाया जाता। और भूख की समस्या पर इस व्यवस्था में काबू नहीं पाया जा सकता है, क्योंकि अनाज की बहुलता होते हुए, कपड़े का अंबार होते हुए इस व्यवस्था की यह जरूरत है कि लोग भूखे-नंगे रहें। आखिर ऐसा क्यों? इसलिए कि लोग भूखे-नंगे रहेंगे, तभी तो उनके दरवाजे पर काम मांगने आयेंगे।

लोगों ने काम का अधिकार का नाटक देख लिया। बालश्रमिक प्रथा को हटाने का कानून बन गया और लोगों ने इसका हथ्र भी देख लिया। बालश्रमिक प्रथा जोरों से चल रही है। इसका किसी को कोई भय भी नहीं है। न कोई देखने वाला, न कोई सुनने वाला। 'अंधेर नगरी, चौपट राजा।' यही कहावत वर्षों से चरितार्थ हो रही है। ऐसे में जो बच्चा दिन भर दिहाड़ी कर 40-50 रुपये कमा लेता है और अपना पेट भरने के साथ ही किसी और का पेट भी भर पाता है, वह भला शिक्षा प्राप्त करने क्यों जायेगा और वहां की विषैली खिचड़ी खा कर क्यों प्राण देगा?

सरकार ने जब स्कूलों में 'दोपहर के भोजन' की योजना बनाई थी और जब इसकी व्यवस्था की तो उसकी सोच यह थी कि भूखे-नंगे बच्चे भोजन की लालच में दौड़े चले आयेंगे। ये सारी योजनायें बड़े-बड़े नौकरशाह बनाते हैं। ये उच्च शिक्षित तो होते ही हैं, शासन-प्रशासन के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित होते हैं। क्या इनकी समझ में यह मोटी बात नहीं आई कि दोपहर के भोजन का इंतजाम तो सरकारी पैसे से होगा, पर सुबह के नाश्ते और रात के भोजन का क्या होगा? क्या एक वक्त का भोजन पा कर बच्चे में इतनी मानसिक शक्ति आ जायेगी कि वह भली-भांति पढ़ ले। फिर समस्या कपड़ों की भी आती है। अधनंगा तो वह स्कूल जायेगा नहीं। सरकार के पास बजट था सिर्फ दोपहर के भोजन का और वह भी कभी दलिया तो कभी खिचड़ी। फिर भी सरकार ने दोपहर के भोजन के नाम पर बहुत बच्चे खींचे। लेकिन पांच-छः साल के बच्चे खिचड़ी

सरकार को इससे क्या मतलब? उसे तो महज अधिकारों की घोषणा भर करनी है। वह लगातार कागज़ पर घोषणाएं करती चली जा रही है ताकि सनद रहे। रोजगार गारंटी योजना शुरू कर बेरोजगारी दूर कर दी। बालश्रम पर रोक लगा कर इस अमानवीय प्रथा को समाप्त कर दिया और अब शिक्षा का अधिकार अधिनियम लाकर सबों को शिक्षित भी कर देगी।

खाने नहीं गये, क्योंकि उन्हें काम पर जाना होता था और सिर्फ एक टाइम का भोजन कर उनका कुछ भी होने वाला नहीं था। वे तो पूरे परिवार की भोजन-व्यवस्था करने में अच्छी-खासी भूमिका निभाते थे। चुनिंदा स्कूलों में जब दोपहर के भोजन की व्यवस्था शुरू हुई तो वहां पढ़ाई की व्यवस्था गोल हो गई।

ग्यारह बजे से पहले मास्टर आते नहीं ताकि लड़कों को खेलने-कूदने का काफ़ी मौका मिल जाये। फिर उनके आते ही सवाल खड़ा होता कि आज भोजन बनाने के काम में किसे लगाया जाये। नौकरानी तो आ कर बैठी हुई है, पर सिर्फ इससे काम नहीं चल सकता। इसलिए गीता जी, रीता जी और सीता जी आदि अध्यापिकाओं को पेट भरने के महत्त्वपूर्ण काम में योगदान देना पड़ेगा। ना-नुकुर और चंद अदायें दिखाने के बाद ये देवियां भोजन बनाने के लिए तैयार हो जातीं, पर दाल-चावल और आलू को देख कर नाक-भौं सिकोड़ने लगतीं। आलू सड़े-पिचके और दाल-

चावल में फिफ्टी-फिफ्टी कंकड़ और अनाज। खैर, रो-धो कर खिचड़ी तैयार होती, बच्चों को पंगत में बिठाया जाता और सहभोज प्रारंभ होता। सहभोज खत्म होते-होते छुट्टी का वक्त आ जाता और जिस लड़के पर घंटी बजाने की जिम्मेवारी थी, वह बिना किसी से पूछे छुट्टी की घंटी बजा देता।

घर जाने पर जब मजदूरी करके मां-बाप लौटते तो पूछते कि आज क्या पढ़ा? बच्चे जवाब देते-खिचड़ी। किसी दिन बताते दलिया। आखिरकार मां-बाप यह समझ नहीं पाते कि भला ये कैसी पढ़ाई है और बच्चों को यह कह कर स्कूल न जाने देते कि चल, कल से चारा ला। दो पैसे तो बनेंगे।

दोपहर का भोजन चालू करने वाले स्कूलों में जब बड़े हाकिम ने दौरा किया तो यह देख कर भौंचक रह गये कि यहां तो सिर्फ बनाने-खाने का इंतजाम चल रहा है, पढ़ाई तो हो नहीं पा रही। उन्होंने इस बारे में हेड मास्टर को तलब किया। हेड मास्टर ने कहा, "साहब जी, इतने बच्चों का खाना बनाने और फिर उन्हें खिलाने में वक्त तो लगता ही है। आप कृपा करें, खाना बनाने की जिम्मेदारी मास्टर्स से हटा कर किसी और पर डाल दें।" साहब समझदार थे। सरकारी नौकरी में आने के पहले एक एनजीओ-स्वयंसेवी संस्था में काम करते थे। उन्होंने सोचा कि किसी एनजीओ को इसकी जिम्मेदारी डाल दी जाये। चार पैसे इस भोजन यज्ञ से अपने को भी प्राप्त होंगे।

उन्होंने अपने निरीक्षण में जो पाया था, उसे लिखते हुए सरकार के सामने यह प्रस्ताव रखा कि भोजन बनाने का काम एनजीओ को सौंप दिया जाना चाहिए। एनजीओ पैकड फूड सप्लाय करेगा और बर्तन आदि मांजने की समस्या से भी निजात मिलेगी।

सरकार ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। तुरत-फुरत टेंडर मंगवाये गये। साहब ने बड़ी चतुराई से उसी एनजीओ

का टेंडर पास करवाया जिसमें कभी वे सेवारत थे। उन्होंने एनजीओ प्रमुख से जो अब उनका यार था, हिस्सा-पत्ती फिट कर लिया। एनजीओ ने भी स्कूलों में पैकड फूड सप्लाय का काम साहब को खुश रखते हुए काफ़ी बढ़ाया, पर एक बार न जाने कैसे पैकड फूड में से छिपकिली निकल आई। कई बच्चे वास्तव में बीमार हो गये तो कई ऐसे ही बीमार पड़ गये। लोकल और नेशनल मीडिया ने हंगामा मचा दिया। सरकार विरोधी राजनीतिक और सांस्कृतिक संगठनों ने काफ़ी शोर-शराबा मचाया और मुख्यमंत्री के साथ-साथ स्थानीय शिक्षा अधिकारी का पुतला भी एक सभा करने के बाद जला दिया। फिर भी स्कूलों में दोपहर के भोजन का कार्यक्रम चलता रहा और संबंधित लोग मालामाल होते रहे।

यह है एक बानगी इस देश में गरीब बच्चों को शिक्षित करने की। ऐसी हालत में जब सरकारी पदों पर बैठे हुए चोर-लुटेरे बच्चों के दोपहर के भोजन में भी कंकड़-पत्थर मिलाने से बाज नहीं आते, शिक्षा के अधिकार का क्या होगा? इस देश में जहां 77 फीसदी आबादी मात्र 20 रुपये रोजाना की आमदनी पर गुजर-बसर करने को तैयार हो, वहां शिक्षा के अधिकार को कैसे लागू किया जायेगा?

सरकार को इससे क्या मतलब? उसे तो महज अधिकारों की घोषणा भर करनी है। वह लगातार कागज़ पर घोषणाएं करती चली जा रही है ताकि सनद रहे। रोजगार गारंटी योजना शुरू कर बेरोजगारी दूर कर दी। बालश्रम पर रोक लगा कर इस अमानवीय प्रथा को समाप्त कर दिया और अब शिक्षा का अधिकार अधिनियम लाकर सबों को शिक्षित भी कर देगी।

यहां यह स्पष्ट है कि जब तक गरीबी की समस्या समाप्त नहीं होती, अशिक्षा की समस्या बनी रहेगी। जहां एक तरफ हीरे-मोतियों के जगमगाते पहाड़ होंगे और दूसरी तरफ दुश्वार अंधेरी खाइयां होंगी, शिक्षा की समस्या का समाधान नहीं होगा।

■ मनोज

दसरथ : बनना मिथक का यथार्थ

दसरथ मिथकों का विवादास्पद नाम है। दसरथ मांझी यथार्थ का निर्विवाद मानक है। भगीरथ एक मिथक है सतत प्रयास और संकल्प का। फरजाद एक रूमानी किस्सा है मोहब्बत के लिए कुछ भी कर गुजरने के बारे में। चीनी बूढ़े ने भी पहाड़ को हटा दिया था पर किंवदन्ती में। दसरथ मांझी ने यह सब कर दिखाया है, सबकी आंखों के सामने बाइस वर्षों तक अविश्वास के साथ घूरती आंखों के सामने।

बिहार के गया जिले के गेलौर टोले का दसरथ मांझी, निकृष्ट और अपमानजनक जाति-व्यवस्था के सामने निचले पायदान पर झुलता मूस खाने को मजबूर मजदूर मुसहर। गांव के नजदीक का कस्बा वजीरगंज, पर बीच में 360 फीट लंबी, 30 फीट चौड़ी और 25 फीट ऊंची पहाड़ी, सबसे नजदीक का रास्ता अवरुद्ध। वजीरगंज जाने के लिए 19 किलोमीटर की यात्रा करनी जरूरी।

बीसों साल हुए इस मजूरे की मेहरारू फगुनी बीमार पड़ गई। दसरथ उसे लाद-फान कर ले चला अस्पताल दूर कस्बे में। पर दगा दे गई लम्बी राह

और फगुनी रास्ते में ही गुजर गई। काश राह रोके यह पहाड़ी न खड़ी होती। क्या करे मजबूर मजूरा? लेकिन दसरथ मजबूर नहीं बना रहेगा। उसने मन ही मन ठान लिया। जीने के लिए औरों की मजूरी तो करनी ही थी। जो भी वक्त मिलता वह छेनी हथौड़ी लिए पहाड़ी पर गुजारता। गांव वाले समझ नहीं पाते कि वह आखिर क्या करना चाहता है। दिन बीते, हफ्ते, महीने बीते फिर साल दर साल। लोगों की समझ में आया कि वह तो पहाड़ी की छाती काट कर सड़क निकल रहा है। पत्नी मर जाने का ऐसा दुख! उसकी याद में ऐसा स्मारक! और करीब बाईस साल लग गए इस बूढ़े बेमिसाल प्रेमी को वजीरगंज की दूरी 13 किलोमीटर कम कर देने में, एक राह 'बनाने' में।

करीब इतना ही वक्त लगा था इस देश के एक शहंशाह को अपनी महबूबा बेगम के लिए एक मकबरा 'बनवाने' में। करोड़ों रुपए और हजारों मजदूर-कारीगर-इंजीनियर। उसे देख किसी ने कहा 'वक्त के गाल पर जम गई आंसू की एक बूंद है।' किसी ने अपने प्रेमी से कहा : 'ऐसा प्रेम चिन्ह बनवाने का वादा करो तो मैं तुरंत मर जाने को तैयार

अभी भी देर तो हुई नहीं। बिना आडम्बर और वितंडा के सहज रूप में बच्चे-बच्चे को सुनाई जा सकती है यह सत्यकथा। साहित्य-नाटक-सिनेमा के सहारे दसरथ के संकल्प को सामुदायिक बनाने का प्रयास किया जा सकता है और यह आशा जगाई जा सकती है कि पेड़ बीज में ही छिपा होता है - नायक हर व्यक्ति में प्रस्फुटित हो सकता है, दसरथ व्यक्ति की प्रवृत्ति सामुदायिक प्रवृत्ति बन सकती है।

हैं।' आदि, पर न कोई फिर उसे बनवा पाया न कोई बन जाने की उम्मीद में इस तरह मरा ही। उल्टे आज की दुनिया के एक अजीम शायर ने कह दिया बेझिझक - 'एक शहंशाह ने दौलत का सहारा लेकर हम गरीबों की मोहब्बत का उड़या है मजाक।' क्योंकि ताजमहल एक समर्थ व्यक्ति के प्रेम का ही दर्शन नहीं उसकी सामर्थ्य और गौरव का भी प्रतीक चिन्ह है जिसे सामूहिक श्रम और प्रतिभा ने मूर्त किया है। उसे दोहराया नहीं जा सकता। वह किसी को वैसा ही

करने की प्रेरणा नहीं देता। उसके निर्माण के दौरान निर्माणकर्ताओं के बीच प्रेम नहीं प्रवाहित होता रहा होगा। उन श्रमिकों पर मेटों का कोड़ा चलता रहा होगा। प्रेम का वह स्मारक घृणा के माहौल से घिरा रहा - बाप-बेटों के बीच घृणा, भाइयों के बीच घृणा। कैसी विडम्बना!

विडंबना तो दसरथ मांझी के स्मारक को लेकर भी उजागर हुई है। आज की राज्य सत्ता शत्रुओं की अनिवार्यता पर टिकी होती है। एक तो ऐसी महत्वाकांक्षाएँ हैं कि शत्रुता उपजते ही हैं, न हो तो पैदा कर लेनी पड़ती है वर्ना बढ़ती फौज-पुलिस, शस्त्र-सज्जा का औचित्य क्या होगा? जो सरकार हिमालय को चीरती हुई सड़कों से नाथ देती है ऊंचाई को। बॉर्डर रोड ऑर्गनाइजेशन हजारों मील के दुनिया के सबसे ऊंचे पहाड़ों को चकनाचूर कर देता है अधुनातन यंत्रों-उपकरणों से। पर एक गांव को पास के कस्बे को जोड़ने वाली सड़क के बीच पचीस फीट ऊंची पहाड़ी अलंघ्य बनी रहती और उसे काटने के लिए दसरथ को अदम्य संकल्प का सहारा लेना पड़ता है।

सरकारों का पाखंड जारी रहता है।

मंत्री झूठे वादे करते रहते हैं या फिर वोट बढ़ाने के लिए कुछ पूरे भी कर देते हैं। पर जनता क्या करती है? दसरथ अकेले पत्थर तोड़ता रहा। गांव वाले अचरज और बाद में प्रशंसा से ताकते रहे। सारे गांव वाले जुट जाते तो बाइस साल नहीं लगते। गांव वाले नहीं जुटे। नहीं उन्हें जुटाने वाले जुटे? किसान मजूरों का दम भरने वाले भी वहां नहीं पहुंचे। माओ के चीन के पहाड़ हटा देने वाले बूढ़े का किस्सा पढ़ने-सुनाने वाले भी अपने देश के एक पहाड़ हटाने वाले की सहायता को नहीं पहुंचे। गाथाएं-मिथक यथार्थ से अधिक प्रेरणास्पद माने जाते रहे हैं, समझदारों के लिए भी है न विडंबना।

अभी भी देर तो हुई नहीं। बिना आडम्बर और वितंडा के सहज रूप में बच्चे-बच्चे को सुनाई जा सकती है यह सत्यकथा। साहित्य-नाटक-सिनेमा के सहारे दसरथ के संकल्प को सामुदायिक बनाने का प्रयास किया जा सकता है और यह आशा जगाई जा सकती है कि पेड़ बीज में ही छिपा होता है - नायक हर व्यक्ति में प्रस्फुटित हो सकता है, दसरथ व्यक्ति की प्रवृत्ति सामुदायिक प्रवृत्ति बन सकती है।